समाधिसार

श्री त्रैविध सोमसेनाचार्य विरचित

संपादक

आचार्य मुनि वसुनंदी

प्रकाशकः

निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (रजि०)

अवसर : प.पू. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के 50वें स्वर्णिम अवतरण दिवस (03 अक्टूबर 2017)

कृतिः

समाधिसार

शुभाशीषः

प॰पू॰ राष्ट्रसंत, सिद्धांत चक्रवर्ती दि॰ जैनाचार्य
श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

संपादकः

आचार्य मुनि वसुनन्दी

सहयोगीः

संघस्थ सभी साधुवृंद एवं त्यागी व्रती

प्रथम संस्करणः
अक्टूबर 2010 (3000 प्रतियाँ)
द्वितीय संस्करण 2017 (1000 प्रतियाँ)

प्रकाशकः
निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला

मुद्रकः
अरिहंत ग्राफिक्स

प्राप्ति स्थान
अतिशय क्षेत्र श्री जम्बूस्वामी तपोस्थली
ग्राम बोलखेड़ा, तह. कामां, जि. भरतपुर (राजस्थान)

अतिशय क्षेत्र जयशांतिसागर निकेतन
ग्राम नानू, मण्डोला (गाजियाबाद) उ.प्र.

समाधिसारः

यावन्न ग्रसते कालो यावन्नाभयेति ते जरा।
यावन्न क्षीयते चायु स्तावत् कल्याण माचर।।1।।

अर्थ– हे आत्मन्! जब तक काल तुझे नहीं ग्रसता है, तब तक तेरी वृद्धावस्था नहीं आती है और जब तक तेरी आयु क्षीण नहीं होती है, तब तक तू कल्याण का आचरण कर।।1।।

किं करोमि क्व गच्छामि क्व चायातोऽस्मि साम्प्रतम्।
को बंधुर्ममकस्याह मित्यात्मानं विचारयेत्।।2।।

अर्थ– मैं क्या कर रहा हूँ? कहाँ जा रहा हूँ? इस समय कहाँ से आया हूँ? मेरा कौन बंधु है? और मैं किसका बंधु हूँ? इस प्रकार अपने आपका विचार करना चाहिए।।2।।

पुरुषास्तीर्थ मिच्छन्ति किं तीर्थैः क्लेशदायकैः।
धर्मतीर्थं शरीरस्थं सर्वतीर्थाधिकं महत्।।3।।

अर्थ– मनुष्य तीर्थ की इच्छा करते हैं, परन्तु क्लेश देने वाले तीर्थों से क्या प्रयोजन है? शरीर के भीतर स्थित धर्मरूपी तीर्थ ही सब तीर्थों से अधिक बड़ा तीर्थ है।।3।।

इदं तीर्थमिदं तीर्थमिति ज्ञात्वा भ्रमन्ति ये।
ज्ञान ध्यान विहीनास्ते सतां तीर्थं न वै बहिः।।4।।

अर्थ– यह तीर्थ है, यह तीर्थ है, ऐसा जानकर जो भ्रमण करते हैं वे ज्ञान तथा ध्यान से विहीन हैं। निश्चय से सत्पुरुषों का तीर्थ बाहर नहीं है।।4।।

आजन्मोपार्जितं सर्व भक्ष्येत्काय संस्थितः।
केनापि दृश्यते नैव स्वात्मानः पश्यतोहरः।।5।।

अर्थ– शरीर के भीतर रहने वाला अपने आत्मा का चोर रागादिक भाव, जन्म से लेकर उपार्जित-संचित समस्त शुभ कर्म को नष्ट कर देता है। यह राग भाव रूपी चोर किसी के द्वारा दिखाई नहीं देता।।5।।

लौकैर्विलोक्यते चौरो गते स्वल्पेऽपि वस्तुनि।
सर्वस्व हर मात्मीयं मनः पश्यन्ति नो जनाः।।6।।

अर्थ– अत्यन्त स्वल्प वस्तु के चले जाने पर लोग चोर को देखते हैं उसकी खोज करते हैं, परंतु अपने आपका सर्वस्व हरण करने वाले मनरूपी चोर को लोग नहीं देखते हैं।।6।।

तत्सामायिक - दीपेन कायदुर्ग - समाश्रितः।
अन्यैराच्छादितः स्वात्मा यथावस्थो विलोक्यताम्।।7।।

अर्थ– जो अपना आत्मा शरीररूपी दुर्ग में रह रहा है, तथा अन्य द्रव्य कर्मों के द्वारा आच्छादित हो रहा है फिर भी स्वभाव दृष्टि से अपने स्वरूप में स्थित है उसे सामायिक रूपी दीपक के द्वारा देखना चाहिए।।7।।

आत्मैव सुप्रसन्नोऽयं सुगतिः परिकीर्तितः।
अप्रसन्नः पुनश्चैव दुर्गतिः स्यान्नसंशयः।।8।।

अर्थ– रागादि विकारी भावों का अभाव होने से अतिशय प्रसन्नता सातिशय निर्मलता को प्राप्त हुआ यह आत्मा ही उत्तम गति कहा गया है और रागादि विकारी भावों के आक्रमण से अप्रसन्नता मलिनावस्था को प्राप्त हुआ आत्मा ही दुर्गति है, इसमें संशय नहीं है।।8।।

तीर्थं तीर्थं भ्रमन्तीह यस्य दर्शन काङ्क्षया।
वसंस्तत्रैव देहेऽसौ देवो द्रष्टुं न शक्यते।।9।।

अर्थ– इस जगत में जिसके दर्शन की इच्छा से लोग प्रत्येक तीर्थ में भ्रमण करते हैं वह आत्मारूपी देव तो उसी शरीर में निवास कर रहा है परंतु कैसा आश्चर्य है कि देखा नहीं जा सकता।।9।।

स्थाने स्थाने भ्रमन्तीह देव दर्शन हेतवे।
शरीरस्थ न पश्यन्ति देवमज्ञान बुद्धयः।।10।।

अर्थ–अज्ञानी पुरुष देव दर्शन के निमित्त से इस जगत में स्थान-स्थान पर भ्रमण करते हैं परंतु शरीर में स्थित देव को नहीं देखते हैं।।10।।

संतोषामृत निर्मग्नः शत्रुमित्र समः सदा।
सुख दुःखा परिज्ञायी रागद्वेष पराङ्मुखः।।11।।
सर्वधातु विनिर्मुक्ती ज्ञानरूपो निरंजनः।
स्वात्मैव कर्म निर्मुक्ते ध्यातव्यो मोक्षकाङ्क्षिभिः।।12।।

अर्थ– जो सन्तोष रूपी अमृत में निमग्न है, शत्रु और मित्र पर सदा समभाव रखता है, इन्द्रियजन्य सुख और दुख की अनुभूति से रहित है, राग द्वेष से पराङ्मुख है, रक्त, मांस, मज्जा आदि धातुओं से रहित है, ज्ञानरूप है, कर्मजन्य कालिमा से रहित है ऐसा अपना आत्मा ही मोक्षाभिलाषी जीवों के द्वारा ध्यान करने योग्य है।।11-12।।

प्रभाराशिरिव श्रीमान् सर्व विश्वोपकारकः।
सदानंद भरा पूर्णः स्वात्मा ध्येयः सुदृग्जनैः।।13।।

अर्थ– जो प्रभाराशि सूर्य के समान आत्म तेज से दैदीप्यमान है, अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से युक्त होने के कारण श्रीमान् है, समस्त संसार का उपकार करने वाला है और निरन्तर आनन्द के भार से परिपूर्ण है ऐसा अपना आत्मा ही सम्यग्दृष्टि जीवों के द्वारा ध्यान करने योग्य है।।13।।

शुद्ध - स्फटिक - संकाशः सर्वज्ञ-गुण-भूषितः।
परमात्म कलायुक्तो ध्येयः स्वात्मा मनीषिभिः।।14।।

अर्थ– जो शुद्ध स्फटिक के समान है, सर्वज्ञ के गुणों से विभूषित है और परमात्मा की कला से युक्त है ऐसा अपना आत्मा ही विद्वज्जनों के द्वारा ध्यान करने के लिए योग्य है।।14।।

षट् चक्रादिकं नूनं सर्वं त्यक्त्वा मुमुक्षुभिः।
स्वात्मा ध्यातव्य एवायं ध्याने रूप विवर्जितः।।15।।

अर्थ– मोक्षाभिलाषी जीवों को अन्य मत के योगशास्त्र में प्रसिद्ध षट्चक्र आदि समस्त ध्येयों को निश्चय पूर्वक छोड़कर ध्यान के समय इसी एक रूपातीत आत्मा का ध्यान करना चाहिए।।15।।

एवमभ्यासयोगेन ध्यानेनानेन योगिभिः।
शरीरान्तः स्थितः स्वात्मा यथावस्थो विलोक्यते।।16।।

अर्थ– इस प्रकार के अभ्यास से युक्त इस ध्यान के द्वारा योगीराज शरीर के भीतर स्थित यथावस्थित, स्वात्म स्वभावनिष्ठ अपने आत्मा का अवलोकन करते हैं।।16।।

अज्ञातः पुरुषोयेन गुण-प्रकृति-वर्जितः।
तेनैव तीर्थ यज्ञादि सेवनीयं न योगिभिः।।17।।

अर्थ– जिसने सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की प्रकृति से रहित पुरुष अर्थात् आत्मा को नहीं जाना है उसी के द्वारा तीर्थ तथा यज्ञादि का सेवन किया जाता है, योगियों के द्वारा नहीं।।17।।

आत्मज्ञानं परं तीर्थं न जलं तीर्थं - मुच्यते।
आत्मानं हि यत् शौचं तत् शौचं परमं स्मृतम्।।18।।

अर्थ– आत्मज्ञान ही उत्कृष्ट तीर्थ है, जल तीर्थ नहीं कहलाता है। जो आत्म ज्ञान रूप शौच है। वही उत्कृष्ट शौच माना गया है।।8।।

आत्मज्ञानं परोधर्मः सर्वेषां धर्मकारिणाम्।
प्रधानं सर्व विद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः।।19।।

अर्थ– धर्म करने वाले सभी पुरुषों के लिए आत्मज्ञान ही उत्कृष्ट धर्म कहा गया हैं यह आत्मज्ञान ही सब विधाओं में प्रधान माना गया है। क्योंकि उस आत्मज्ञान से ही अमृत, मोक्ष प्राप्त होता है।।19।।

तपोभिर्दुस्तरैस्तप्तै र्व्रतैस्तैर्दुर्द्धरैः कृतै।ः।
आत्मज्ञानं विना मोक्षो न भवेद् योगिना मपि।।20।।

अर्थ– तपे हुए अत्यन्त कठिन तपों और कठिनाई से धारण करने योग्य व्रतों के द्वारा आत्मज्ञान के बिना योगियों को भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता।।20।।

सर्व धर्ममयः श्रीमान् सर्व-वर्ण-विवर्जितः।
आत्मा विज्ञायते येन तस्य जन्म न विद्यते।।21।।

अर्थ– जो अस्ति नास्ति, भेद-अभेद, एकत्व-अनेकत्व आदि परस्पर विरोधी समस्त धर्मों से सहित है, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूप लक्ष्मी से सहित है और शरीराश्रित शुक्ल, पीतादि समस्त वर्णों अथवा ब्राह्मणादि समस्त वर्णों से रहित है, ऐसा आत्मा जिसके द्वारा जाना जाता है, उसका पुनः जन्म नहीं होता अर्थात् वह निर्वाण को प्राप्त होता है।।21।।

एवं ज्ञात्वा स्वमात्मानं मनोवाक्काय वर्जितः।
ध्येयः परपदारूढः परमात्मा निरंजनः।।22।।

अर्थ– इस प्रकार अपने आत्मा को जानकर, मन वचन काय से रहित, उत्कृष्ट पद पर आरूढ़ तथा कर्म कालिमा से रहित परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।।22।।

सुप्तदृष्टि समां तत्र दृष्टि मुन्मील्य-योगिवत्।
पश्येत्परदारूढं देवेशं मुक्तिहेतवे।।23।।

अर्थ– जिस प्रकार कोई सोता हुआ मनुष्य किसी पदार्थ पर अपनी दृष्टि खोलता है उसी प्रकार योगियों के समान दृष्टि खोलकर मुक्ति के निमित्त, परम पद पर आरूढ़ देवाधिदेव सिद्ध परेमेष्ठी का अवलोकन करना चाहिए। अर्थात् उनका ध्यान करना चाहिए।।23।।

शंकरो वा जिनेन्द्रो वा यो यस्याभिमतः सदा।
एष एव प्रभुः शान्तो निर्वाणस्थो विलोक्यते॥24॥

अर्थ– शंकर हो, चाहे जिनेन्द्र हो अथवा जो जिसे इष्ट हो वही शांत प्रभु निर्वाण में स्थित दिखाई देता है।।24।।

सुरासुर - नराधीश पूजितो जगतां हितः।
सर्व-धातु-निर्विर्मुक्तो देवेशः परिकीर्तितः॥25॥

अर्थ– जो सुरेन्द्र असुरेन्द्र और नरेन्द्र के द्वार पूजित है, समस्त जगत का हितकारी है, तथा सब धातुओं से रहित है, वही देवाधिदेव कहा जाता है।।25।

पुण्यापुण्यद्वयातीतो भववल्ली विनाशकः।
अव्यक्तो व्यक्तरूपश्च देवेशोऽय-मिहोच्यते॥26॥

अर्थ– जो पुण्य और पाप दोनों से रहित है, संसार रूपी बेल का नाश करने वाला है, अतीन्द्रिय होने के कारण अव्यक्त है और ज्ञान दर्शन स्वभाव से युक्त होने के कारण व्यक्त रूप है, वह इस जगत् में देवाधिदेव कहा जाता है।।26।।

सदानंद मयोदेवः सिद्धो बुद्धो निरामयः।
निराकारो निराभासो निःप्रपंचो निरंजन॥27॥

अर्थ– जो सदा आनंद से तन्मय है अथवा सत्, वास्तविक, आत्मोत्थ आनन्द से परिपूर्ण है, अनंत चतुष्टय रूप लक्ष्मी के साथ क्रीड़ा करने के कारण देव है, युक्ति और आगम से निर्णीत होने के कारण सिद्ध है, सहज ज्ञान दर्शन से युक्त होने के कारण बुद्ध है, जन्म-मरण के रोग से रहित होने के कारण निरामय, निरोग है, रूप, रस, गंध तथा स्पर्श से रहित होने के कारण निराकार, मूर्ति रहित है, कृत्रिमता से रहित होने के कारण निराभास, वास्तविक है, प्रपंच, इष्टानिष्ट के विकल्प से रहित होने के कारण निरंजन है।।27।।

कृत्स्न कर्म कलातीतः सकलः निष्कलोऽपि च।
परमात्मा परंज्योतिः परं ब्रह्म परात्परः॥28॥

अर्थ– समस्त कर्मरूपी शरीर से रहित है, निष्कल शरीर रहित होने पर भी सकल, शरीर सहित (पक्ष में) केवलज्ञानादि नवकेवल लब्धिरूप कलाओं से सहित है परमात्मा है, परं ज्योति स्वरूप है, परं ब्रह्मा है, उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट, सर्वोत्कृष्ट है।।28।।

गुणत्रय - विनिर्मुक्तो गंध स्पर्श विवर्जितः।
अच्छेश्श्चाप्य भेद्यश्च निर्लेपो निर्मलः प्रभुः।।29।।

अर्थ– सत्त्व, रजस् और तमोगुण से रहित है, गंध और स्पर्श से विवर्जित है, अछेद्य है, अभेद्य है, निर्लेप है, लोकोत्तर सामर्थ्यवान है।।29।।

सगुणो निर्गुणश्चापि संसारार्णव - तारकः।
दुर्लक्ष्यो लक्ष्यमापन्नः सुवर्णो वर्ण-वर्जितः।।30।।

अर्थ– निर्गुण-सत्त्वादि गुणों से रहित होने पर भी सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सहित है, संसार सागर में तारने वाला है, दुर्लभ-बड़ी कठिनाई से अनुभव में आने वाला है, शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति रूप लक्ष्य को प्राप्त है, सुवर्ण-सुयश से सहित है, वर्ण-कृष्ण पीतादि वर्णों से रहित है।।30।।

एकोऽप्यनेकरूपः स्यात् स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
निर्वाण-पद-मारूढ़ो देवेशोऽय मिहोच्यते।।31।।

अर्थ– सामान्य अथवा द्रव्य दृष्टि से एक होकर भी विशेष अथवा पर्याय दृष्टि से अनेक रूप है, असंख्यात आत्म प्रदेशों का अखण्ड पिण्ड होने से स्थूल है, पारस्परिक व्याघात, बाधा आदि से रहित होने के कारण सूक्ष्म है, एक समय मात्र में सात राजू प्रमाण गमन करने में समर्थ होने से लघु है, आत्मा की श्रेष्ठतम् पर्याय युक्त होने के कारण गुरु है तथा निर्वाण पद को प्राप्त है, वही इस जगत में देवाधिदेव कहलाता है।।31।।

ब्राह्मणैर्लक्ष्यते ब्रह्मा विष्णुः पीताम्बरैस्तथा।
रुद्रस्तथा स्विभिर्दृष्ट एष एवं निरंजनः।।32।।
जिनेन्द्रो लक्ष्यते जैनैर्बुद्धं कृत्वा च सौगतैः।
कौलिकैः कौल माख्यातं स एवायं पुरातनः।।33।।

अर्थ– कर्म कालिमा से रहित यह निरंजन देव ही ब्राह्मणों के द्वारा ब्रह्मा कहा जाता है, वैष्णवों के द्वारा विष्णु कहा जाता है, शैवों के द्वारा रुद्र कहा जाता है, जैनों के द्वारा जिनेन्द्र कहा जाता है, बौद्धों के द्वारा बौद्ध कहा जाता है और कौलिकों के द्वारा कौल कहा जाता है। ऐसा यह पुरातन देव है।।32-33।।

स्फटिको बहुरूपश्च यथैवोपाधि भेदतः।
स तथा दर्शनैः षड्भिः ध्यात एकोऽप्यनेकधा।।34।।

अर्थ– जिस प्रकार उपाधि के भेद से स्फटिक अनेक रूप हो जाता है, उसी प्रकार षड् दर्शनों के द्वारा ध्यान किया हुआ यह देव अनेक रूप हो जाता है।।34।।

यथाचानेकरूपं स्याज्जलं भूवर्ण भेदतः।
तथा भाव विभेदेन नानारूपः स गीयते।।35।।

अर्थ– जिस प्रकार एक ही जल पृथ्वी के वर्ण भेद से अनेक रूप हो जाता है, उसी तरह भावों के विभेद से यह एक आत्मा अनेक रूप कहा जाता है।।35।।

भाव भेदान्नगच्छन्ति दर्शनान्येक वर्त्मना।
एकत्रापि स्थिताः काये पश्चैते विषया यथा।।36।।

अर्थ– जिस प्रकार एक ही शरीर में स्थित स्पर्श आदि पाँच विषय ज्ञानमरूप एक मार्ग से मुक्त होने के कारण भावभेद को प्राप्त नहीं होते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही मार्ग का आश्रय लेने से भाव-भेद को प्राप्त नहीं होते हैं।।36।।

व्योमरूपो जगन्नाथः क्रियाकाल गुणोत्तरः।
संसार दृष्टि निर्मुक्तो सर्वतो याति लक्षणम्।।37।।

अर्थ– वह त्रिलोकी नाथ सिद्ध परमात्मा व्योमरूप है अर्थात् मूर्ति का अभाव होने से आकाश रूप है। क्रिया लोकान्त शिखर से अन्यत्र जाने रूप क्रिया तथा काल गुण, काल द्रव्य के निमित्त से होने वाले विभाव व्यंजन पर्याय रूप परिवर्तनों से रहित है। संसार की सृष्टि से रहित है। अर्थात् पंच परावर्तन रूप संसार से अतीत है और ज्ञान स्वभाव की अपेक्षा सब ओर लक्ष्य में आता है।।37।।

निर्मलो निष्कलः शान्तः सर्वज्ञः सुखदः प्रभुः।
स एव भगवन् देवः कोऽपि नेयो निरंजनः।।38।।

अर्थ– निर्मल, अशरीर, शान्त, सर्वज्ञ, सुखदायक प्रभु तथा कर्म कालिमा से रहित वह अनिर्वचनीय सिद्ध भगवान ही प्राप्त करने के योग्य है।।38।।

केवल ज्ञान संपूर्णः केवलानंद संसृतः। (संश्रितः)
केवलज्ञान गम्यश्च देवेशोऽयमिहोच्यते।।39।।

अर्थ– जो केवलज्ञान से परिपूर्ण है, केवलानन्द, विषयातीत, शुद्धात्म से समुत्पन्न सुख से युक्त है तथा केवलज्ञान के द्वारा ही जिनका साक्षात्कार होता है वही देवों का देव कहा जाता है।।39।।

अत्यनन्त-गुणैःपूर्ण-मनन्त-सुख-शालिनम्।
ध्यानेन्मुक्ति पदारूढं देवेशमपुनर्भवम्।।40।।

अर्थ– अनन्तानन्तगुणों से परिपूर्ण, अनन्त सुख से सुशोभित, मुक्तिपद पर आरूढ़ और पुनर्जन्म से रहित उन देवाधिदेव का ध्यान करना चाहिए।।40।।

समरस स्वच्छ गंगाया जलेन स्नपयेत् प्रभुम्।
पूजयेत्तं ततो योगी भाव पुष्पैः सुगंधिभिः।।41।।

अर्थ– योगी को समरसरूप स्वच्छ गंगा जल के द्वारा उन प्रभु का अभिषेक करना चाहिए। पश्चात् निर्मल भावरूपी सुगंधित फूलों के द्वारा उनकी पूजा करनी चाहिए।।41।।

भक्तिस्थले विशाले च वर्तिं कृत्वा स्थिरं मनः।
निक्षिप्त परमानंद स्नेहं पूर्ण सुधाधिकाम्।।42।।
दीपश्रेणिं सुदीप्तां च प्रबोध्य ज्ञान चेतसा।
उत्तारयेत्प्रभोः पुण्य-मारार्तिक-मिति क्रमात्।।43।।

अर्थ– भक्तिरूपी विशाल पात्र में निश्चल मन की बत्ती बनाकर परमानंद रूपी तेल भरना चाहिए। पश्चात् ज्ञान सम्पन्न चित्त के द्वारा पूर्ण सुधा से युक्त दैदीप्यमान दीपमाला को प्रज्ज्वलित कर उसके द्वारा क्रम से प्रभु की प्रवित्र आरती उतारना चाहिए।।42-43।।

सदैव विधिना तेन देवेशस्य प्रभोरिदम्।
भवेयं भावितं चिन्ता कारकं चेति चिन्तयेत।।44।।

अर्थ– इस विधि से देवाधिदेव प्रभु की अर्चाकर ऐसी भावना करना चाहिए कि हे प्रभो! मैं आपके ही समान शुद्ध भावों से युक्त होऊँ।।44।।

स्वहंसमन्तरात्मानं चिद्रुपं परमात्मनि।
योजयेत् परमे हंसे निर्वाणपद-माश्रिते।।45।।

अर्थ– शरीर के भीतर रहने वाले चैतन्य रूप अपने हंस, आत्मा को, निर्वाण पद को प्राप्त परम हंस सिद्ध परमेष्ठी में लगाना चाहिए।।45।।

द्वाश्यामैक्यं विधायाथ शुभ ध्यानेन योगवित्।
परमात्मस्वरूपं तं स्वामात्मानं विचिन्तयेत्।।46।।

अर्थ– तदनन्तर योग, ध्यान को जानने वाला योगी, स्वहंस रूप ध्याता और परमहंस रूप ध्येय को एक कर अर्थात् ध्याता और ध्येय में अभेद स्थापित कर शुभ ध्यान के द्वारा अपने आत्मा को परमात्म स्वरूप चिन्तवन करें।।46।।

सुलब्धानंद साम्राज्यं केवलज्ञान - भास्करम्।
परमात्मस्वरूपं तं जातं त्यक्त भवार्णवम्।।47।।

अर्थ– वह अपने आपके विषय में ऐसा विचार करें कि मैं उस परमात्म स्वरूप हूँ, जिसने आनंद का साम्राज्य प्राप्त कर लिया है, जो केवलज्ञान रूपी सूर्य से प्रकाशमान है तथा जिसने संसार रूपी सागर का परित्याग कर दिया है।।47।।

अहं निरंजनो देवः सर्व लोकाग्र-माश्रितः।
इति ध्यानं सदा ध्याये दक्षय स्थान कारणम्।।48।।

अर्थ– मैं ही समस्त लोक के अग्रभाग पर स्थित निरंजन, कर्म कालिमा रहित देव हूँ, ऐसा ध्यान सदा करना चाहिए क्योंकि यह ध्यान अक्षय स्थान, अविनाशी, मोक्षपद की प्राप्ति का कारण है।।48।।

आत्मनो ध्यानलीनस्य दृष्टे देवे निरंजने।
आनन्दाश्रु प्रपातश्च रोमाश्चेति लक्षणम्।।49।।

अर्थ– जिस ध्यान निमग्न आत्मा को निरंजन देव सिद्ध परमेष्ठी का दर्शन हो जाता है अर्थात् उनकी अनुभूति होने लगती है, उसके आनन्दाश्रुवों का प्राप्त होने लगता है और रोमांच निकल आते हैं। उसका यही ब्राह्म लक्षण है।।49।।

तद् ब्रह्म तद् व्रत ध्यानं तत्रत्यो योग एव सः।
स एव हि परानन्दो न यत्र क्लिश्यते मनः।।50।।

अर्थ– जिसमें मन क्लेश को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् जिसमें मन संकल्प विकल्प छोड़कर शुद्ध आत्म स्वरूप में स्थिर होता है वही ब्रह्म है, वही व्रत है, वही ध्यान है, वही उस भूमिका में होने वाला योग है और वही परमानन्द है।।50।।

संकल्पेन विकल्पेन हीने हेतु विवर्जिते।
धारणा ध्येय निर्मुक्ते निर्मले (स्थानके) ध्रुवम्।।51।।
नियुंजीत सदा चित्तमभावे भावनां कुरु।
पदे तत्र गतो योगी न पुनर्जन्मतां व्रजेत्।।52।।

अर्थ– जो संकल्प विकल्प से रहित है, कारण रहित है, धारणा और ध्येय के विकल्प से निर्मुक्त है तथा निर्मल है ऐसे स्थान में ऐसे विषय में निश्चित ही सदा मन लगाओ तथा ऐसी भावना करो कि ज्ञायक स्वभाव के सिवाय मुझ में अन्य सब विभावों का अभाव है। जो योगी उस पद को प्राप्त होता है, उस निर्विकल्प शुक्लध्यान को प्राप्त होता है वह फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह जन्म मरण के क्रम से मुक्त हो जाता है।।51-52।।

ज्ञेयं सर्व पदातीतं ज्ञानं च मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं कुर्यान्नान्यो मोक्षपथः पुनः॥53॥

अर्थ– ज्ञेय सब पदों से अतीत है और ज्ञान को मन कहा जाता है। इसलिए ज्ञान और ज्ञेय को सम करना चाहिए। इससे अतिरिक्त अन्य मोक्ष मार्ग नहीं है।।53।।

ध्रुवोपरिमनोनीत्वा यत्परं वा विलोक्यते।
यत्परापरतो नास्ति तत्सूक्ष्मं तन्निरंजनम्॥54॥

अर्थ– ध्रुव-शुद्ध त्रैकालिक ज्ञायक स्वभाव पर मन से जाकर जिस सर्वोत्कृष्ट का दर्शन होता है तथा जिससे बढ़कर अन्य वस्तु नहीं है, वही सूक्ष्म तथा निरंजन सिद्ध पद है।।54।।

पूर्वमार्गेन मोक्षोऽस्ति पश्चिमेऽपिन विद्यते।
उन्मार्गे उन्मनीभावे मुक्तिः स्यान्मार्ग वर्जिते॥55॥

अर्थ– न तो पूर्वमार्ग अनादि संसेवित गृहस्थ पद में मोक्ष है और न पश्चात् गृहीत मुनिपद में मोक्ष है किन्तु मार्ग से रहित उपेक्षा भाव रूप उत्कृष्ट मार्ग में मोक्ष होता है।।55।।

भव-भ्रांति-परित्यागत् सदानन्दः रसात्मकः।
सहजावस्थितः साधु रयं मोक्षपथः स्मृतः॥56॥

अर्थ– भव भ्रमण का परित्याग होने से जो समीचीन आत्मोत्थ आनन्द से तन्मय है तथा सहज परम पारिणामिक भाव में अवस्थित है यह साधु ही मोक्षमार्ग माना गया है।।59।।

मनोवाक्कायरहितं श्वासोच्छ्वास-विवर्जितम्।
गमागम पथातीतं सर्व व्यापार-वर्जितम्॥57॥

अर्थ– जो मन, वचन, काय के व्यापार से रहित है, श्वासोच्छ्वास से वर्जित है, गमनागमन के मार्ग से दूर है, सर्व व्यापार से रहित है।।57।।

निराश्रयं निराधारं सर्वाधारं महोदयम्।
पराचीनं पदं ज्ञेयं योगिभिस्तन्निरंजनम्॥58॥

अर्थ– जो किसी के आश्रय नहीं है, किसी अन्य के आधार नहीं है, कल्याणदायक होने से सबका आधार है और महान अभ्युदय से रहित है, वही निरंजन परम पद है, ऐसा योगियों को जानना चाहिए।।58।।

पवनोम्रियते यत्र मनो यत्र विलीयते।
विज्ञेयं सहजं स्थानं तत्सूक्ष्म-मजरामरम्॥59॥

अर्थ– जहाँ श्वासोच्छ्वास रूप पवन समाप्त हो जाता है और मन विलीन हो जाता है उसे सूक्ष्म तथा अजर-अमर सहज स्थान जानना चाहिए।।59।।

मनोव्यापार - निर्मुक्त सदैवाभ्यास-योगतः।
उन्मनीभावमायातं लभ्यते तत्पदं क्रमात।।60।।

अर्थ– निरन्तर अभ्यास करते रहने से जो मन के व्यापार से निर्मुक्त हो जाता है तथा जो उन्मनीभाव को प्राप्त हुआ है ऐसा राग-द्वेष के अप्रणिधान रूप अपेक्षा भाव से सहित पद क्रम से प्राप्त होता है।।60।।

विमुक्त विषयासंगं सन्निरुद्धं मनोहृदिः
यदा यात्युन्मनी भावं तदा तत्परमंपदम्।।61।।

अर्थ– जब मन विषयासक्ति हो छोड़कर अपने हृदय में अच्छी तरह रुक जाता है तब तक उन्मनीभाव को प्राप्त होता है। वह उन्मनीभाव ही परम पद है।।61।।

ध्यातृ ध्यानोभयाभावो ध्येयेनैक्यं यदा व्रजेत्।
सोऽयं समरसी-भाव-स्तदेकी-करणं स्मृतम्।।62।।

अर्थ– जब ध्याता ध्यान-दोनों का अभाव ध्येय के साथ एकत्व को प्राप्त होता है तब समरसी भाव प्रकट होता है, वही ध्याता और ध्येय का एकीकरण कहलाता है।।62।।

शुद्धध्यानस्य सूक्ष्मस्य निराकारस्य किंचन।
तथा तत्प्रोच्यते सद्भिर्दुर्ज्ञेयं महतामपि।।63।।

अर्थ– सूक्ष्म तथा निर्विकार शुद्ध ध्यान के विषय में सत्पुरुषों के द्वारा कुछ कहा जाता है जो कि बड़े-बड़े पुरुषों को भी दुर्ज्ञेय है, कठिनाई से जानने योग्य है।।63।।

रात्रौ स्वप्नेन मूकेन लब्धः स्पनेऽत्र केनचित्।
न ब्रूते सोऽपि मूकस्तु तेन स्वप्नो न लभ्यते।।64।।

अर्थ– इस जगत में रात्रि के समय सोये हुए किसी गूंगे मनुष्य ने स्वप्न प्राप्त किया, स्वप्न देखा। वह गूंगा मनुष्य न तो उस स्वप्न को कहता है और न उसके द्वारा देखा हुआ स्वप्न प्राप्त किया जाता है।।64।।

यो मूको यादृशी रात्रौ स्वप्नो लभ्यते तादृशम्।
फलं च यादृशं तस्य शृणु सौम्य तदादरात्।।65।।

अर्थ– जो गूंगा जैसी रात्रि में जैसा स्वप्न देखता है उसी के अनुरूप वह वैसा ही फल प्राप्त करता है। हे सौम्य! हे भद्र! वह जैसा फल प्राप्त करता है उसे आदरपूर्वक सुनो।।65।।

अविद्या रात्रि स्वपनेन चित्तमूकेन योगिना।
स्वप्नो भावमयो लब्धस्तस्यैवानन्द दायकः।।66।।

अर्थ– जो अविद्या रूपी रात्रि में सोया हुआ है तथा चित्त की अपेक्षा गूंगा है अर्थात् इधर-उधर की बात का विचार नहीं करता है ऐसे योगी को जो भावमय स्वप्न प्राप्त होता है वह उसी के लिए आनन्द दायक होता है।।66।।

कृतो येन स्थिरोभावः परे ब्रह्मणि योगिना।
परं ब्रह्मगतो भावस्तस्य मुक्तिफलो भवेत्।।67।।

अर्थ– जिस योगी ने पर ब्रह्म में अपना भाव स्थिर किया है उसका वह भाव पर ब्रह्म को प्राप्त होता है तथा मुक्तिरूपी फल से सहित होता है।।67।।

सोम-सूर्य-द्वयातीतं वायु-संचार वर्जितम्।
संकल्प रहितं चित्तं परं ब्रह्म निगद्यते।।68।।

अर्थ– सोम और सूर्य से अतीत, वायु के संचार से वर्जित तथा संकल्प से रहित चित्त परब्रह्म कहलाता है।।68।।

न किंचिच्चिन्तयेच्चित्ते उन्मनी भाव संगतः।
निराकारं महासूक्ष्मं महाध्यानं तदुच्यते।।69।।

अर्थ– उन्मनीभाव को प्राप्त हुआ योगी जब अपने चित्त में कुछ भी चिन्तन नहीं करता है तब उसका वह ध्यान निराकार और महासूक्ष्म महाध्यान कहा जाता है।।69।।

पिण्डपदरूप-भेदाः शुभध्यानस्य ये पुराः।
उक्तास्तस्यैव रोहार्थं प्रासादे पदिका यथा।।70।।

अर्थ– पहले जो शुभ ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ भेद कहे हैं वे उसी सूक्ष्म महाध्यान पर आरूढ होने के लिए कहे गए हैं। जिस प्रकार किसी बड़े महल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की उपयोगिता होती है उसी प्रकार उस उत्कृष्ट ध्यान पर चढ़ने के लिए उन पिण्डस्थ आदि ध्यानों की उपयोगिता है।।70।।

कीदृशोऽस्मि क्वगन्तास्मि कवात्रायातोऽस्मि साम्प्रतम्।
इति योगी न जानाति लये लीनो निरंजने।।71।।

अर्थ– निरंजनमय ध्यान में लीन हुआ योगी यह नहीं जानता है कि मैं कैसा हूँ? कहाँ जाऊँगा और इस समय कहाँ आया हूँ।।71।।

आच्छादिते ज्ञानेत्रे विषयैः पटलोपमैः।
ध्यानं सिद्धपुरी द्वारं नैवे पश्चन्ति जन्तवः।।72।।

पंचभिंचलैर्दुष्टैः पृथग् विषयगामिभिः।
अनिरुद्वैरिन्द्रियाश्वै ध्यानाद्व्यावर्तयेन्मनः॥73॥

अर्थ– जब इस जीव का ज्ञानरूपी नेत्र पटल, सघन आवरण के समान विषयों के द्वारा आच्छादित रहता है तब वे मुक्ति नगरी के द्वार के समान इस उत्कृष्ट ध्यान को नहीं देखते हैं॥72-73॥

शमंजीतषु कषायेष्विन्द्रियेष्वपि।
ध्यानस्थैर्यत् कृतंचित्रं तस्स वश्यं जगत्त्रयम्॥74॥

अर्थ– इस जगत् में उन इन्द्रियों तथा कषायों के शान्त हो जाने पर जिसे ध्यान की स्थिरता प्राप्त हुई है, आश्चर्य है कि तीनों जगत उसके वशीभूत हो जाते हैं॥74॥

यत् शुभं कर्म कर्तृत्वं तत्कुर्यान्मनसा सह।
मनस्तुल्यं फलं यस्मात् शून्येशून्यं भवेत् पुनः॥75॥

अर्थ– जो शुभ कर्म तुझे करना है उसे मन के साथ करना चाहिए, क्योंकि फल मन के समान ही होता है अर्थात् जैसा मन होता है वैसा फल प्राप्त होता है। पश्चात् मन के शून्य, कतृत्व भावना से रहित होने पर कर्म का फल शून्य हो जाता है॥75॥

कृताभ्यासो यथाध्यानी लक्ष्यबेधे च तन्मनाः।
एक चित्ततया योगी वाञ्छितं कर्म साधयेत्॥76॥

अर्थ– जिस प्रकार लक्ष्यवेध का इच्छुक मनुष्य अभ्यास करता हुआ लक्ष्यवेध को सिद्ध कर लेता है उसी प्रकार ध्यान करने वाला योगी अभ्यास करता हुआ एक चित्त होने से वांछित कार्य को सिद्ध कर लेता है॥76॥

तस्मादप्युत्तमं सारं पवित्रं कर्मनाशनम्।
सर्व धमोत्तरं चित्रं कार्यं समरसात्मकम॥77॥

अर्थ– उस ध्यान से भी उत्कृष्ट सारभूत समरसी भाव का होना है क्योंकि यह समरसी भाव ही कर्मों को नष्ट करने वाला है, पवित्र है, सब धर्मों से श्रेष्ठ है तथा आश्चर्य कारक है॥77॥

जन्मलक्षैर्व्रतैरुग्रैर्यन्नैव क्षीयते क्वचित्।
गतः समरसे माग्न्यं तत्कर्म क्षपयेत् क्षणात्॥78॥

अर्थ– जो कर्म लाखों जन्म तथा कठिन व्रतों के द्वारा भी कहीं नष्ट नहीं होता है, समरसी भाव में निमग्नता को प्राप्त हुआ योगी उस कर्म को क्षणभर में नष्ट कर देता है॥78॥

सर्वारम्भ - परित्यागाच्चित्ते समरसं गते।
या सिद्धिः स्यान्नसाजाता सर्व-तीर्थावगाहने॥79॥

अर्थ– समस्त आरम्भों का परित्याग करने से चित्त के समरसी भाव को प्राप्त होने पर जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह समस्त तीर्थों में अवगाहन करने से नहीं होती है॥79॥

विद्यमाने परेमूढ़ा योगे समरसात्मके।
योगं शोकं प्रकुर्वाणाः संभ्राम्यन्ति दिशोदिशः॥80॥

अर्थ– समरसात्मक श्रेष्ठ योग के विद्यमान रहते हुए भी अज्ञानी जन खेदकारी अन्य योगों को करते हुए प्रत्येक दिशा में भटकते रहते हैं॥80॥

तावद् ब्रह्म विशेषोऽस्ति यादव् ब्रह्म न विन्दति।
संप्राप्ताः परमं ब्रह्म सर्वेवर्णा विजातयः॥81॥

अर्थ– जब तक ही ब्रह्म विशेष है जब तक ही यह जीव शुद्धात्म तत्त्वरूप ब्रह्म को प्राप्त नहीं होता है। परमब्रह्मा को प्राप्त हुए सभी वर्ण विजाति हो जाते हैं॥81॥

धर्ममार्गोद्धताः सन्ति दर्शनानां विभेदतः।
मोक्षार्थं यान्ति समुद्रं सरितो यथा॥82॥

अर्थ– दर्शनों की विभिन्नता से जो लोग धर्म के मार्ग में उद्धत, हठग्राही, एकान्तवादी हो रहे हैं वे भी मोक्ष प्राप्ति के लिए उस तरह समता को प्राप्त होते हैं जिस तरह कि नदियाँ समुद्र को प्राप्त होती हैं॥82॥

गवानमेक वर्णानामेकवर्णं यथा पयः।
षण्णां वै दर्शनानाञ्च मोक्षमार्गस्तथा पुनः॥83॥

अर्थ– जिस प्रकार अनेक वर्णों वाली गायों का दूध एक ही वर्ण का सफेद होता है उसी प्रकार छहों दर्शनों का मोक्ष मार्ग एक ही प्रकार का होता है॥83॥

संकल्पकल्पनामुक्तं रागद्वेष विवर्जितम्।
सदानंद लये लीनं मनः सामायिकं स्मृतम्॥84॥

अर्थ– जो संकल्पों की कल्पना से छूट गया है, रागद्वेष से रहित है और निरन्तर आनन्द स्वरूप शुद्धात्मा में लीन रहता है ऐसा मन ही सामायिक माना गया है॥84॥

अतीतं च भविष्यच्च यन्नस्मरति मानसम्।
तत्सामायिक मित्याहु निर्वात स्थानदीपवत्॥85॥

अर्थ– जो मन अतीत और अनागत का स्मरण नहीं करता है अर्थात् पूर्व भुक्त भोगों का स्मरण तथा अनागत भोगों की आकांक्षा नहीं करता है तथा वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक के समान निश्चल रहता है वह सामायिक है, ऐसा कहते हैं॥85॥

निःसंगं च निराकारं निराभासं निरारयम्।
पुण्यपाप विनिर्मुक्तं मनः सामायिकं स्मृतम्।।86।।

अर्थ– निःसंग पर की इच्छा से रहित, निराकार-निर्विकल्प, निराभास-मिथ्यावासना से शून्य, निराश्रय-पर के आलंबन से रहित और पुण्य पाप के विकल्प से निर्मुक्त मन सामायिक माना गया है।।86।।

गते शोको न यस्यास्ति न च हर्षः समागमे।
शत्रुमित्र-समंचित्तं सामायिक-मिहोच्यते।।87।।

अर्थ– जिसे नष्ट हुई वस्तु में शोक नहीं है, इष्ट वस्तु के समागम में हर्ष नहीं है तथा जो शत्रु और मित्र में समान रहता है ऐसा मन ही इस जगत् में सामायिक कहा जाता है।।87।।

यत्प्रसर्पति लोकेऽस्मिन् शास्त्रं कुकविभिः कृतम्।
अविद्या सा निर्विर्दिष्टा सा मताभ्रम कारणम्।।88।।

अर्थ– इस लोक में कुकवियों के द्वारा रचा हुआ जो शास्त्र विस्तार को प्राप्त हो रहा है वह अविद्या ही कही गई है, यह अविद्या संसार का कारण मानी गई है।।88।

यथारात्रौ तमोमूढ़ा नैव पश्यन्ति जन्तवः।
न चेक्षन्ते तथा तत्त्व मविद्यातमसावृता।।89।।

अर्थ– जिस प्रकार रात्रि में अंधकार से मोह को प्राप्त हुए जीव कुछ नहीं देखते हैं उसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित जीव यथार्थ तत्त्व को नहीं देखते हैं।।89।।

मोहमायामयी दुष्टा साधूनां मोक्षकांङ्क्षिणाम्।
सिद्धिमार्गार्गला नित्यविद्या निर्मिता भुवि।।90।।

अर्थ– मोक्ष के इच्छुक साधुओं के लिए यह मोक्षमायामयी दुष्ट अविद्या पृथ्वी पर मोक्षमार्ग की आगल के समान निर्मित की गई है।।90।।

एवं ज्ञात्वा बुधैर्नित्य स्वात्मनो हिवांछया।
अधिवा दूरतस्त्याज्या न श्रोतव्या कदाचन।।91।।

अर्थ– ऐसा जानकर ज्ञानीजनों को आत्महित की इच्छा से वह अविद्या दूर से छोड़ देनी चाहिए उसे कभी सुनना नहीं चाहिए।।91।।

सर्वज्ञोपज्ञसद्विद्या भव विच्छेद कारणम्।
सैवसेव्या सदा सद्भिर्मोक्षमार्ग प्रकाशिका।।92।।

अर्थ– सर्वज्ञ देव के द्वारा सर्व प्रथम जानी हुई सद्विधी ही संसार के विच्छेद का कारण है तथा मोक्ष मार्ग को प्रकाशित करने वाली है इसलिए सत्पुरुषों को सदा उसी की उपासना करनी चाहिए।।92।।

सत्त्वं रजस्तमश्चापि शरीरान्तर्गुणत्रयम्।
रजस्तमः सु संतापात् सत्त्वमेकं समाश्रयेत्।।93।।

अर्थ– सत्त्व रजस् और तपस् ये तीन गुण शरीर के भीतर विद्यमान हैं। इनमें रजस् और तमस् गुण में संताप होता है अतः एक सत्व गुण का ही आश्रय लेना चाहिए।।93।।

सत्त्वं सर्व-गुणाधारं सत्त्वं धर्म धुरन्धरम्।
संसारनाशनं सत्वं सत्त्वं स्वर्गापवर्गदम्।।94।।

अर्थ– सत्त्वगुण समस्त गुणों का आधार है। सत्त्वगुण, समस्त धर्मों में धुरंधर है, सत्त्वगुण संसार का नाश करने वाला है और सत्त्वगुण स्वर्ग तथा मोक्ष को देने वाला है।।94।।

कामक्रोधादि-दुर्भाव-रहितं शुद्धचिन्मयम्।
चित्तं समुच्यते सत्त्वं संसारा शर्मनाशनम्।।95।।

अर्थ– जो काम क्रोधादि दुष्ट भावों से रहित है, शुद्ध चैतन्य से तन्मय है तथा संसार के दुःखों का नाश करने वाला है ऐसा चित्त, सत्त्वगुण कहा जाता है।।95।।

निरालंबे निराभासे सदानंद परे शुभे।
सतां ध्यानमये सौधे सत्त्वं स्तम्भो दृढ़ोमतः।।96।।

अर्थ– निरांलब मिथ्या वासना से रहित तथा आत्मोत्थ आनन्द के स्थान शुभ ध्यानरूपी महल में सत्व गुण सुदृढ़ स्तम्भ माना गया है।।96।।

यथावह्निलवेनापि दह्यते दारू संचयः।
कर्मेन्धनाति दह्यन्ते तथा ध्यानलवेन तु।।97।।

अर्थ– जिस प्रकार अग्नि के एक कण के द्वारा बहुत भारी काष्ट का समूह जला दिया जाता है उसी प्रकार ध्यान के एक अंश के द्वारा भी कर्मरूपी ईंधन का समूह जला दिया जाता है।।97।।

यः सदास्नाति योगीन्द्रो ध्यान स्वच्छ महाजले।
क्षणमेकं कथं तिष्ठेत् तस्मिन् कर्म रजोमलम्।।98।।

अर्थ– जो योगी निरन्तर ध्यानरूपी स्वच्छ जल में स्नान करता है उस पर कर्मरूपी धूलि का मैल एक क्षण के लिए भी कैसे ठहर सकता है।।98।।

न स्पृशेत् पद्मिनीपत्रे यथातोयं स्वभावतः।
पाषाणो भिद्यतेनैव जलमध्ये स्थितो यथा।।99।।
यथा वा मेघ संघाताः प्रलीयन्तेऽनिलाहताः।
शुक्लध्यानेन कर्माणि क्षीयन्ते योगिनां तथा।।100।।

अर्थ– जिस प्रकार पानी स्वभाव से कमल पत्र का स्पर्श नहीं करता है और जिस प्रकार जल के भीतर स्थित पाषाण जल के द्वारा नहीं भेदा जाता है। अथवा जिस प्रकार वायु से ताड़ित मेघों के समूह अपने आप छिन्न भिन्न हो जाते हैं उसी प्रकार शुक्लध्यान के द्वारा योगियों के कर्म नष्ट हो जाते हैं।।99-100।।

स्फटिको बहुरूपः स्याद् यथैवोपाधिभेदतः।
न लिप्यते तथा पापैरात्मा सद्ध्यानसंश्रितः।।101।।

अर्थ– जिस प्रकार स्फटिक मणि, समीप में रखी हुई लाल पीली आदि डांक के भेद से अनेक प्रकार हो जाता है परंतु परमार्थ से उन रंगों को ग्रहण नहीं करता है उसी प्रकार समीचीन ध्यान को प्राप्त आत्मा पापों से लिप्त नहीं होता है।।101।।

शुक्लध्यान समायोगाद् ब्रह्मवत् ब्रह्मणि स्थितिः।
भूमिस्थोऽपि भजेद्योगी शाखग्रफल-मुत्तमम्।।102।।

अर्थ– शुक्लध्यान के समायोग से इस जीव की ब्रह्म के समान आत्मध्यान में लीन आदि ब्रह्म भगवान वृषभदेव के सदृश ब्रह्म स्वशुद्धात्म में स्थित हो जाती है तथा ध्यान के प्रभाव से योगी को ऐसी ऋद्धि उत्पन्न हो जाती है कि वे भूमि में स्थित रहते हुए शाखा में संलग्न उत्तम फल को प्राप्त कर लेते हैं।।102।।

मुक्तिश्री परमानन्दो ध्यानेनानेन योगिनाम्।
रूपातीतं निराकारं ध्यानं ध्येयं ततोऽनिशम्।।103।।

अर्थ– क्योंकि इस ध्यान के द्वारा योगियों को मुक्ति लक्ष्मी का परमानन्द उत्कृष्ट आत्मोत्थ सुख प्राप्त होता है इसलिए निराकार रूपातीत ध्यान का निरन्तर ध्यान करना चाहिए।।103।।

ग्रन्थानभ्यस्य तत्त्वार्थ - तत्त्वज्ञानं पुनः सुधीः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थाननेकशः।।104।।

अर्थ– ज्ञानी मनुष्य, तत्त्वरूप पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए ग्रन्थों का अभ्यास कर, पश्चात् जिस प्रकार धान्य का इच्छुक मनुष्य धान्य को लेकर पलाल को छोड़ देता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर अनेक ग्रन्थों को छोड़ देवे।।104।।

क्षीयन्ते यानिकालेन किं तैः कर्तव्यमक्षरैः।
यावन्नोऽनक्षरं प्राप्तं तावन्मोक्षे कुतः सुखम्।।105।।

अर्थ– जो अक्षर काल के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। उन अक्षरों से क्या कार्य है? जब तक अनक्षर-अक्षरातीत अथवा अविनाशी केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक मोक्ष में सुख कैसे हो सकता है।।105।।

ध्यानकल्पतरुर्लोके ज्ञानपुष्पैः सुपुष्पितः।
मोक्षामृत फलैर्नित्यं फलितोऽयं सुखप्रदः।।106।।

अर्थ– यह सुखदायक ध्यानरूपी कल्प वृक्ष लोक में सदा ज्ञानरूपी पुष्पों से पुष्पित और मोक्षरूपी अमृत फल से फलित रहता है।।106।।

तथा कुरू यथा शुक्ल - ध्यान-वृक्ष-समाश्रितः।
विज्ञानात् ज्ञान पुष्पाणि-लभेन्मोक्षफलं बुधः।।107।।

अर्थ– हे भव्य! तू ऐसा प्रयत्न कर कि जिसको शुक्लध्यानरूपी वृक्ष पर आरूढ़ हुआ विद्वान् प्रथम विज्ञान पर पदार्थ से भिन्न शुद्ध ज्ञायक स्वभाव वाले आत्मा का पृथक अनुभवकर केवलज्ञानरूपी पुष्प को प्राप्त करे और उसके पश्चात् मोक्षरूपी फल को प्राप्त कर सके।।107।।

अस्मिन्नेव भवेत शून्यं व्योमरूपं सनातनात्।
शुक्लध्यानात् सदानंदो योगी मुक्तिपदं व्रजेत्।।108।।

अर्थ– इसी शुक्लध्यान में यह जगत् आकाशरूप होता हुआ शून्य प्रतिभासित होने लगता है अर्थात् ध्याता का मन एक ओर से उठने वाले संकल्प विकल्पों से रहित हो जाता है और उस श्रेष्ठतम् शुक्लध्यान से आत्मोत्थ परम आनंद का अनुभव करता हुआ मुक्ति पद को प्राप्त होता है।।108।।

ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रयात्मकम्।
योगी मुक्तिपदं प्राप्तोह्युपायः परिकीर्त्यते।।109।।

अर्थ– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय से तन्मय मुक्त-पद-मोक्षपद को प्राप्त हुआ योगी निश्चय से उपाय-मोक्ष प्राप्ति का साधन कहा जाता है।।109।।

व्यापारच्छिन्नसंसार - संयोगो मुक्तियोगकः।
विभक्तः संयमाद्यङ्गैः सोऽपि स्यादष्टधा पुनः।।110।।

अर्थ– जिसमें आत्मचिन्तनरूप व्यापार से संसार का संयोग छिन्न-भिन्न हो जाता है तथा जो मुक्ति को प्राप्त कराने वाला है ऐसा वह योग संयमादि अंगों के द्वारा विभक्त होता हुआ आठ प्रकार का होता है।।110।।

मणि हुतवहतारा सोम सूर्यादयोऽपि
कृति विषय मिहाल्पं बाह्य मुद्योतयन्ति।
सहज लय समुत्थं द्योतयेज्ज्योति रन्तस्
त्रिभुवनमपि सूक्ष्म स्थूलभेदं सदैव॥111॥

अर्थ– मणि, अग्नि, तारा, चन्द्रमा और सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थ इस जगत् में अत्यन्त अल्प बुद्धि पदाथोद्ध को प्रकाशित करते हैं परन्तु सहज स्वभाव में लीनता से उत्पन्न सूक्ष्म तथा स्थूल भेदरूप अन्तर्ज्योति तीनों लोकों को सदा ही प्रकाशित करती है॥111॥

परानन्दास्पदं ज्ञेयं लक्ष्यं स्वानुभवात् परम्।
अधस्ताद् द्वादशान्तस्य ध्यायेन्नाद् मनाहतम्॥112॥

अर्थ– जो परानन्द का स्थान है, स्वानुभव से जो लक्ष्य में आता है तथा उत्कृष्ट ज्ञेय स्वरूप है ऐसे अनाहतनाद का द्वारदशान्त के नीचे ध्यान करना चाहिए॥112॥

तैलधाराभिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टा निनादवत्।
लयं प्रणव नादस्य योऽसावेति य योगवित्॥113॥

अर्थ– जो तैल की धारा के समान अखण्ड है, विशाल घंटा के शब्द के समान दीर्घकाल तक गूंजता रहता है तथा ओंकार ध्वनि का जिसमें लय होता है ऐसे अनाहत को जो प्राप्त होता है वह योगवित् योग का ज्ञाता है॥113॥

घंटानादो यथा प्रान्ते विश्रामान्मधुरो भवेत्।
अनाहतोऽपि नादो हि तथा शान्तो विभाव्यताम्॥114॥

अर्थ– जिस प्रकार घंटा का शब्द अन्त में विश्रान्त होने से मधुर होता जाता है, श्रुति सुखद जान पड़ता है उसी प्रकार अनाहतनाद भी शांत होता हुआ मधुर जान पड़ता है, ऐसा जानना चाहिए॥114॥

नदत्यव्यक्त रूपेण सर्वभूत-हृदि स्थितः।
प्रत्यक्षं सर्व-भूतानां दृश्यते नैव लक्ष्यते॥115॥

अर्थ– यह अनाहतनाद समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित है तथा अव्यक्त रूप से शब्द करता है, सब प्राणियों को इसका प्रत्यक्ष होता है परन्तु लक्ष्य में ही नहीं आता अर्थात् सूक्ष्म होने से दृष्टि में नहीं आता॥115॥

अक्षर ध्वनि निर्मुक्तं निस्तरंगं समे स्थितम्।
यच्चित्तं सहजावस्थं सन्नाद स्तेन भिद्यते सहजावस्थं॥116॥

अर्थ– अक्षरों की ध्वनि से रहित, निस्तरंग-निर्विकल्प अथवा निश्चल, साम्यभाव में स्थित तथा सहजावस्था से युक्त जो चित्त है उसके द्वारा ही उस नाद का भेद होता है उसका रहस्य खुलता है।।116।।

तावदेवेन्द्रियाण्यत्र कषायास्तावदेव हि।
अनाहते मनोनादे यावल्लीनं न योगिनः।।117।।

अर्थ– इस जगत् में इन्द्रियाँ तभी तक रहती हैं और कषाय भी तभी तक विद्यमान होती हैं जब तक योगी का मन अनाहतनाद में लीन नहीं होता है।।117।।

सौख्यं वैषयिकंतावत् सुरम्यं प्रतिभासते।
अनाहत लयोत्पन्नं सुखं यावन्न लिप्यते।।118।।

अर्थ– विषय संबंधी सुख तभी तक रम्य जान पड़ता हैं जब तक अनाहतलय से उत्पन्न सुख प्राप्त नहीं होता है।।118।।

जन्म लक्षार्जितं कर्म ध्यान-ज्ञानेन योगिनः।
तमः सूर्योदये नैव सर्वं नश्यति तत्क्षणात्।।119।।

अर्थ– जिस प्रकार सूर्योदय के द्वारा समस्त अंधकार तत्काल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इस अनाहत ध्यान के ज्ञान के द्वारा योगी का लाखों जन्मों में संचित किया हुआ कर्म नष्ट हो जाता है।।119।।

स्थूलं सूक्ष्मं च साकारं शुभध्यानमपि स्फुटम्।
रूपातीतं निराकारं समाख्यातमिहोच्यते।।120।

अर्थ– स्थूल और सूक्ष्म भेद वाला जो साकार शुभ ध्यान है, वह स्पष्ट है। यहाँ रूपातीत नाम का जो निराकार ध्यान कहा गया है, उसके विषय में कुछ कहा जाता है।।120।।

निराकारमपि ध्यानं रूपातीतं समुज्वलम्।
स्थूल-सूक्ष्म-विभेदेन द्विविधं परिकीर्तितम।121।।

अर्थ– जो रूपातीत नाम का अतिशय उज्ज्वल ध्यान है वह भी सूक्ष्म और स्थूल के भेद से दो प्रकार का कहा गया है।।121।।

शरीरं सकलं त्यक्त्वा ब्रह्मद्वारे स्थिरं मनः।
क्रियते यत्र तत्सूक्ष्मं निराकारं तदुच्यते।।122।।

अर्थ– जिसमें समस्त शरीर को छोड़कर मन ब्रह्मद्वार में स्थिर किया जाता है वह सूक्ष्म निराकार ध्यान कहा गया है।122।।

निराकार मपि ध्यानं रूपातीतं निरंजनम्।
ध्यायेद् ध्यानं हितद्योगी मुक्तिसौख्याभिलाषया।।123।।

अर्थ– योगी को मुक्ति सुख की अभिलाषा से इस रूपातीत निरंजन ध्यान का ध्यान करना चाहिए।।123।।

ध्याने चानाहते शब्दे नित्याभ्यास प्रयोगतः।
द्वादशान्ते निराकारे मनोयोगी निवेशयेत्।।124।।

अर्थ– योगी को चाहिए कि वह नित्य अभ्यास के प्रयोग से अनाहत शब्द के ध्यान में तथा निराकार द्वादशान्त में अपना मन लगावे।।124।।

गच्छन् वा यदि वा सुप्तो वालापे यदि भोजने।
न क्वचिद् त्यजति ध्यानं कथितं योग पारगैः।।125।।

अर्थ– योगी चल रहा हो वा सो रहा हो अथवा वार्तालाप कर रहा हो अथवा भोजन कर रहा हो, वह कहीं भी ध्यान नहीं छोड़ता है, ऐसा योग के पारगामियों के द्वारा कहा गया है।।125।।

बाह्यमाभ्यन्तरं योगी त्यक्त्वा मानं द्विधापि च।
ब्रह्मद्वारं निराकारं परमात्मपदं श्रयेत्।।126।।

अर्थ– योगी बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का मान छोड़कर निराकार ब्रह्म द्वार रूप परमात्म पद का आश्रय लेवें।।126।।

निष्कलो निर्ममः शान्तो सर्वज्ञः शुभदः प्रभुः।
स एवं भगवान् देवौ विज्ञेयो हि निरंजनः।।127।।

अर्थ– वह परमात्मा निष्कल शरीर रहित है, ममता रहित है, शान्त है, सर्वज्ञ है, शुभ को देने वाला है, प्रभु है और उसे ही निरंजन भगवान् जानना चाहिए।।127।।

एकांगुल परिमाणं सुवृत्तं व्योमसन्निभम्।।
योगीन्द्रः प्रथमं यावद् द्वादशान्तं विचिन्तयेत्।।128।।

अर्थ– योगी सर्वप्रथम उस द्वादशान्त का चिन्तवन करें जो एक अंगुल प्रमाण, गोलाकार तथा आकाश के समान है।।128।।

नेत्रमंडल संस्थायी द्वादशात्मा निगद्यते।
तस्मादपूर्वगं ब्रह्म द्वादशान्तं ततः स्मृतम्।।129।।

अर्थ– नेत्र मंडल में स्थित जो चक्र है वह द्वादशात्मा (सूर्य) कहलाता है और उससे पश्चिम की ओर जो चक्र है वह ब्रह्म द्वादशान्त माना गया है।।129।।

नादबिन्दु कलातीतं परमात्म - कलायुतम्।
द्वादशान्तं सदा ध्यायेत् सदानन्दैक मंदिरम्।।130।।

अर्थ– जो नाद बिंदु की कला से रहित तथा परमात्म कला से युक्त है तथा समीचीन आनन्द का एक मंदिर है ऐसे द्वादशान्त का सदा ध्यान करना चाहिए।।130।।

रुद्ध्वा योगी कषाय प्रसरमिति चलानिन्द्रियान् स्वे निषिध्य
कृत्वा ज्ञानांगमन्तः परम-सुख-पद-प्राप्तये शुद्ध-बुद्धिः।
कृत्वा चित्तं स्थिरं स्वं समरस-कलितं सत्वमालम्ब्य गाढं
ध्यानं ध्यात्वा यते च प्रतिदिन ममलं शुद्ध-धर्मं-जिनेन्द्रः।।131।।

अर्थ– इस प्रकार जिनेन्द्रानुयायी शुद्ध बुद्धि का धारक योगी कषायों के प्रसार को रोककर, चंचल इंद्रियों को अपने आप में अवरूद्ध कर परमसुखरूप पद की प्राप्ति के लिए ज्ञानोपयोग से अन्तर्मुखी कर, अपने चित्त को स्थिर तथा समरस से युक्त कर, सत्त्व धैर्य का प्रगाढ़ आलंबन लेकर तथा प्रतिदिन ध्यान धारण कर निर्मल शुद्ध धर्म को प्राप्त होता है।।131।।

छित्वासंसृतिपाशमान्तरमलं जित्वाथ मोहादिकम्।
दीक्षां मोहहरीं प्रपद्य स बुधः पार्श्वप्रभौरुद्यतः।
ब्रह्मध्यान मयेन केवलमतो ज्ञानं न मत्यादिकम्।
प्रापन्मुक्तिपदं सदासुखमयं क्षीणाष्टकर्मा क्रमात्।।132।।

अर्थ– इस प्रकार का ध्यान कर मुक्ति पद को प्राप्त करने वाले किसी योगी का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि वह ज्ञानी, पार्श्व प्रभु से मोह को हरने वाली दीक्षा प्राप्त कर, संसाररूपी पाश को छोड़कर मोहादिक अंतरंग मल को जीतकर तथा आत्मध्यान के द्वारा मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञानों के विकल्प से रहित केवल ज्ञान को प्राप्त कर क्रम से आठ कर्मों को नष्ट कर सदा सुख से तन्मय मुक्तिपद को प्राप्त हुआ।।132।।

संयमो नियमश्चैव करणं च तृतीयकम्।
प्राणायामः प्रत्याहारः समाधिर्धारणा तथा।।133।।
ध्यानं चेतीह योगस्य ज्ञेयमष्टांगकं बुधैः।
पूर्णांगैः क्रियमाणोऽसौ मुक्त्ये स्यादसुभृताम्।।134।।

अर्थ– संयम, नियम, करण, प्राणायाम, प्रत्याहार, समाधि, धारणा और ध्यान ये योग के आठ अंग विद्वानों के द्वारा जानने योग्य हैं इन समस्त अंगों के द्वारा किया हुआ योग, प्राणियों की मुक्ति के लिए होता है।।133-134।।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसंगता।
इत्येतानि व्रतान्यत्र संयमः पंचधा स्मृतः।।135।।
शौचं तपश्च संतोषः स्वाध्यायो देवता स्मृतिः।
नियमः पंचधा ज्ञेयः करणं पुनरासनम्।।136।।

अर्थ– अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये व्रत हैं इस योग के प्रकरण में यही पाँच प्रकार का संयम माना गया है।।135

शौच, तप, सन्तोष, स्वाध्याय और देव का स्मरण यह पाँच प्रकार का नियम जानना चाहिए। करण, आसन को कहते हैं।।136।।

श्वासप्रश्वासयोः स्थैर्यं प्राणायामो भवेत् पुनः।
प्रत्याहारो विषयेभ्यश्चेन्द्रियाणां समाहृतिः।।137।।

अर्थ– श्वासोच्छ्वास की स्थिरता प्राणायाम है तथा विषयों से इन्द्रियों की निवृत्ति करना प्रत्याहार है।।137।।

समाधिर्भव हन्तॄणां वाक्यानामर्थ चिन्तनम्।
स्थैर्य र्हतोर्भवेद् ध्यानं धारणा चित्त-योजनात्।।138।।

अर्थ– संसार का नाश करने वाले वाक्यों के अर्थ का चिन्तन करना समाधि है। स्थिरता का जो कारण है वह ध्यान है तथा पदार्थ के चिन्तन में चित्त का लगाना धारणा कहलाती है।।138।।

स्थूले वा यदि वा सूक्ष्मे साकारे च निराकृतौ।
ध्यानं ध्येये स्थिरं चित्तमेकं प्रत्यय संगतम्।।139।।

अर्थ– ध्यान चाहे स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म, साकार हो, चाहे निराकार। ध्येय ध्यान करने योग्य पदार्थ पर चित्त का स्थिर हो जाना ही सबसे प्रमुख प्रत्यय है, ध्यान का कारण है।।139।।

एवं योगाभवन्त्यंगैरष्टधा संयमादिभिः।
सर्वातिशय-संपन्नं ध्यानं कल्याण-कारणम्।।140।।

अर्थ– इस प्रकार संयमादि अंगों के द्वारा योग 8 प्रकार का होता है। समस्त अतिशयों से युक्त ध्यान ही कल्याण का कारण होता है।।140।।

कर्मारि वीर मानम्य प्रोच्यमानं मया तव।
सद्ध्यानं शृणु मुक्तात्मन् मुक्ति लक्ष्मीपदं परम्।।141।।

अर्थ– हे मुक्तात्मन्! कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने के लिए शूरवीर श्री भगवान् महावीर को नमस्कार कर मैं तेरे लिए मुक्तिरूपी लक्ष्मी का स्थान स्वरूप उत्कृष्ट ध्यान करता हूँ, सो श्रवण कर।।141।।

चिदानन्दोऽसि सिद्धोऽसि बुद्धि एवासि बन्धुरः।
त्वं जीवासि परं ज्योतिर्निराकारोऽसि सर्वदा॥142॥

अर्थ– हे आत्मन्! तू चिदानंद है, सिद्ध है, बुद्ध है, मनोहर है, परं ज्योति स्वरूप है और सर्वदा निराकार है॥142॥

देह वांछां त्याजामन्द धातु-बन्धोऽय-मन्जसा।
पूर्णो मूत्र पुरीषाभ्यां क्षणं योगेन भंगुरः॥143॥

अर्थ– हे अमन्द! हे बुद्धिमन्! तू शरीर की इच्छा छोड़। वास्तव में यह धातुओं का बन्ध, शरीर मूत्र और मल से भरा हुआ है तथा योग के द्वारा क्षणभर में नष्ट हो जाने वाला है॥143॥

उपकार शतेनापि सार्धं नैति कदाचन।
एष वह्नि प्रसंगेन भस्म त्वं समुपैष्यति॥144॥

अर्थ– यह शरीर सैकड़ों उपकार करने पर भी कभी साथ में नहीं जाता है। यह अग्नि के संसर्ग से भस्मरूप को प्राप्त हो जायेगा॥144॥

अस्य संबंधतो याता भूरिदारा दयोऽपरे।
कथंयान्ति त्वयासाकं स्वकर्माधीन मानसाः॥145॥

अर्थ– यह शरीर के संबंध से नाते को प्राप्त हुए बहुत भारी स्त्री पुत्रादि अन्य पुरुष चले गए हैं। वे सब अपने अपने कर्म के आधीन हैं, तेरे साथ कैसे जावेंगे?॥145॥

कारागार मिव गात्रं त्वमात्मन् विद्धि दुःसहम्।
स्थातुं ते निर्मितं लोके कर्मणा क्रूर-कर्मणा॥146॥

अर्थ– हे आत्मन्! तू ऐसा समझ, कि इस लोक में क्रूर कर्म ने तेरे रहने के लिए दुःसह कारागार के समान यह शरीर निर्मित किया है, बनाया है॥146॥

क्षुतृषार्ति - महाशोक - जरान्यक्कार - कारकम्।
भयोपेतं सुवीभत्सं कफा-मासृग्मलाविलम्॥147॥

अर्थ– यह शरीर क्षुधा तृषा की पीड़ा, महाशोक, वृद्धावस्था तथा तिरस्कार का करने वाला है, भय से सहित है, अत्यन्त घृणित है, कफ, आंव, खून और मल से दूषित है॥147॥

पुण्यपाप - क्षयान्मोक्षस्त्प्रमाणेन तत्त्वतः।
पुण्यं नित्यं न पापं च तत्फलं नापि निश्चलम्॥148॥

अर्थ– पुण्य और पाप के क्षय से मोक्ष होता है, यह श्रुति का वाक्य है। इसकी प्रमाणता से यह बात परमार्थ से सिद्ध है कि न पुण्य नित्य है, न पाप नित्य है और न उनका फल ही निश्चल है, नित्य है॥148॥

महान् स्यात् पुण्यतो भोगः पापै रांकयं महाद्भुतम्।।
चैतन्य भोगतो नैव तद्दुःखं न हि किञ्चिन।।149।।

अर्थ– पुण्य से महान् भोग की प्राप्ति होती है और पाप से अत्यन्त आश्चर्यकारी दरिद्रता मिलती है परन्तु चैतन्य के भोग से ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में रमण करने से कुछ भी दुख की प्राप्ति नहीं होती।।149।।

पुण्याद्भोगास्ततः पापं ततो दुखं ततोऽश्रियः।
एवं विचार्य जानीहि जीवस्य हितमञ्जसा।।150।।

अर्थ– पुण्य से भोग मिलते हैं, भोगों से पाप होता है, पाप से दुख होता है, और दुख से दरिद्रता होती है ऐसा विचार कर तू आत्मा का वास्तविक हित जान।।150।।

आत्मन् स्वयमिवात्मानं धर स्वात्मान मात्मनि।
प्रयाहि पूततां चिन्तां विमुच्यान्यत्र सर्वथा।।151।।

अर्थ– हे आत्मन्! तू अपने आपके द्वारा अपने आतमा को अपने आप में धारण कर तथा अन्यत्र की चिन्ता को सर्वथा छोड़कर पवित्रता को प्राप्त हो।।151।।

देहोऽपरोऽपरश्चात्मा यस्येति चिन्तनं क्षणम्।
जन्म-मृत्यु-जरातीतं स एव पद-मश्नुते।।152।।

अर्थ– शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है ऐसा चिन्तन क्षणभर के लिए भी जिसके होता है, वही जन्म, जरा और मृत्यु से रहित पद को प्राप्त होता है।।152।।

शुद्धो भावो भवेद्यस्य स एव सिद्धि-वल्लभः।
सोऽत्र रत्नत्रयं विद्धि न भिन्नं स्वात्मनः स्फुटम्।।153।।

अर्थ– जिसके शुद्ध भाव होता है वही मुक्ति का स्वामी होता है, वह शुद्ध भाव रत्नत्रय है ऐसा जानो तथा वह रत्नत्रय स्वात्मा से स्पष्ट है, भिन्न नहीं है।।153।।

ध्यानं ध्येयं तथा ध्याता त्रयमेतद्वचोरसः।
अकिंचनत्वमेवात्र कुरुते सिद्धि साधनम्।।154।।

अर्थ– ध्यान, ध्येय और ध्याता से तीन तो वचनों का परिणाम है, परमार्थ से अकिन्चनत्व ही मुक्ति का साधन करता है।।154।।

हिते रागोऽहिते द्वेषो ह्युक्तौ तौ भव हेतुकौ।
स्वतत्त्वे विशदो भूयात् योगी शुद्धे निरामये।।155।।

अर्थ– हित में राग, अहित में द्वेष ये दोनों संसार के हेतु कहे गए हैं अतएव योगी को शुद्ध तथा निरामय, नीरोग आत्मतत्त्व में निमग्न होना चाहिए।।155।।

शिवं दूरं भवेन्नात्र जिताक्षस्य स्वसंविदः।
नरनाग-सुरेन्द्रणां पदं जीर्णतृणं यथा।।156।।

अर्थ– जितेन्द्रिय तथा स्वयंवेदी पुरुष को इस जगत् में मोक्ष दूर नहीं है फिर नर सुर और सुरेन्द्र का पद तो उसे जीर्ण तृण के समान है।।156।।

चिन्तयत्यनिशं योगी स्वमचिन्त्यं सदा स्वयम्।
अचिन्यपद कस्यायं स्वामी स्यान्न कथं तदा।।157।।

अर्थ– जब कि यह योगी निरन्तर अचिन्तनीय स्वकीय आत्मा का स्वयं चिन्तन करता है तब यह अचिन्त्यपद मोक्ष का स्वामी नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा।।157।।

आत्म शुद्धात्मसद्ध्यानात् मुक्तः स्यात् कर्मबंधनात्।
यद्वस्तु सेव्यते येन तद्गुणस्तस्य किं न हि।।158।।

अर्थ– शुद्धात्मा के समीचीन ध्यान से आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि जो वस्तु जिसके द्वारा सेवित होती है उस वस्तु का गुण क्या उसमें नहीं होता? अर्थात् अवश्य होता है।।158।।

बहिरात्मा स एव स्याद्बहिर्विषय सन्मुखः।
जितेन्द्रियोऽन्तरात्मा च परमात्मा स्वभावतः।।159।।

अर्थ– बहिरात्मा वही होता है जो बाह्य विषयों के सम्मुख होता है। इन्द्रियों को जीतने वाला अन्तरात्मा और स्वभाव का आश्रय लेने वाला परमात्मा कहलाता है।।159।।

त्रिप्रकारः स एवात्मा विज्ञेयो ध्यानयोगतः।
स्वभावं न करोत्यात्मा तं बिना भव्यता गुणम्।।160।।

अर्थ– जो आत्मा, बहिरात्मा, और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार का है वही ध्यान के योग से जाना जाता है। यह आत्मा भव्यता गुण के बिना स्वभाव को प्राप्त नहीं करता है।।160।।

त्यक्त्वात्मानं व्रजन्त्येता राजरूपादि संपदः।
तद्दुःख कर्दमायान्ति पुण्यस्यच्छझना पुनः।।161।।

अर्थ– ये राज्य तथा रूपादि की सम्पदायें आत्मा को छोड़कर चली जाती हैं। पुण्य के छल से उसे फिर उन सम्पदाओं के वियोग से उत्पन्न दुखरूपी पंक ही प्राप्त होता है।।161।।

भोगारोगा इवानल्प महाक्लेश - प्रदायिनः।
तेषु धत्ते रतिं नात्र विसृज्यातममर्तिं सुधीः।।162।।

अर्थ– ये भोग, रोग के समान बहुत भारी महान् क्लेश को देने वाले हैं इसलिए बुद्धिमान मनुष्य आत्मबुद्धि को छोड़कर उन भोगों में प्रीति को धारण नहीं करता है।।162।।

सुखं दु:खंद्वयं त्यक्त्वा समानं नित्यामात्मनि।
स्थिरी भवति यो योगी स्वकीयं तस्य तत्पदम्॥163॥

अर्थ– जो योगी सुख और दुख दोनों को समान रूप से छोड़कर निरन्तर आत्मा में स्थिर होता है उससे वह स्वकीय पद को प्राप्त होता है॥163॥

निर्धनत्वं धनं नित्यं मरणं जीवितं स्थितम्।
शत्रौ मित्रे समाना च स्थितिः स्याद्योगिना मिति॥164॥

अर्थ– योगियों की ऐसी स्थिति होती है कि वे निर्धनता को ही नित्य धन मानते हैं, मरण ही उनके लिए जीवन है और शत्रु तथा मित्र में उनकी समान भावना होती है॥164॥

गुरुदीपं बिना शुद्धमात्म तत्त्वं वपुः स्थितम्।
शास्त्रज्ञोऽपि न जानाति महामोह तमश्च यः॥165॥

अर्थ– जो महा मोहरूपी अन्धकार के समूह से युक्त है ऐसा शास्त्र का ज्ञाता पुरुष भी गुरुरूपी दीपक के बिना शरीर में स्थित शुद्ध आत्मतत्त्व को नहीं जानता है॥165॥

यत्कृते कुरुषे पापं मोहतो वपुरादिकम्।
तत्कुटुम्बं न जीवानां शरण्यं स्याच्चतुर्गतिः॥166॥

अर्थ– मोहवश तू जिसके लिए पाप करता है वह शरीर आदिक तथा कुटुम्ब चतुर्गतिरूप संसार में इन जीवों के लिए शरण नहीं है, कोई भी इनकी रक्षा करने वाले नहीं हैं॥166॥

इंद्रियाण्यपि सर्वाणि गात्राण्यपि व सर्वदा।
तद्धेतुष्वर्थ सार्थेषु शून्यं स्याद्योगिनां मनः॥167॥

अर्थ– सभी इन्द्रियों और शरीर तथा इनके कारण स्वरूप पदार्थों के समूह में योगियों का मन सदा शून्य रहता है॥167॥

विषयाः सर्वकालेऽपि तेषां संबंधवर्तिनः।
तेषा मूलं वपुर्ज्ञेयं तद्वपुः कर्म-संभवम्॥168॥

अर्थ– पंचेन्द्रियों के विषय और सदा उनके संबंध में रहने वाले जो पदार्थ हैं उन सबका मूल कारण शरीर को जानना चाहिए। यह शरीर कर्म से उत्पन्न होता है॥169॥

निश्चयः कर्मणां मोहादज्ञानातस्य संग्रहः।
तदज्ञानं भवत्यत्र रागद्वेष-प्रभावतः॥169॥

अर्थ– मोह, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय से कर्म समूह का बन्ध होता है। अज्ञान से उन कर्मों का संग्रह होता है अर्थात् उनमें स्थिति आदि पड़ती है और वह अज्ञान राग द्वेष के प्रभाव से होता है॥169॥

अस्मिन्नयार-संसार-सागरे मज्जतां सताम्।
किं समालंबनं साधो! राग-द्वेष-परिक्षयः॥170॥

अर्थ– हे साधो! इस अपार संसार सागर में डूबते हुए सत्पुरुषों के लिए समीचीन आलंबन क्या है? रागद्वेष का क्षय होना ही समीचीन आलंबन है॥170॥

रागद्वेषौ यदि स्यात्तां तपसा किं प्रयोजनम्।
तावेव यदि न स्यातां तपसा किं प्रयोजनम्॥171॥

अर्थ– रागद्वेष के रहते कठिन तप भी कल्याणकारी नहीं है क्योंकि तप करने पर भी रागद्वेष के कारण कर्मबन्ध जारी रहता है औद यदि रागद्वेष नष्ट हो गए हैं तो तपश्चरण का उद्देश्य पूर्ण हो चुका है अर्थात् रुक गया, अतः वह निष्प्रयोजन है॥171॥

रागं हित्वा जिनो जातो वीतराग-पदान्वितः।
रागो द्वेषस्तयो जेयो मिथ्यात्वादि-प्रमादकृत्॥172॥

अर्थ– राग को जीत कर यह जीव वीतराग पद से सहित जिनेन्द्र हो जाता है इसलिए मिथ्यात्व आदि को करने वाला राग द्वेष जीतने के योग्य है॥172॥

लब्ध्वा त्वं स वयोरूप-विद्यादीन्-दुःखतः परान्।
कुमतिः पातयत्येव प्रमादाद्भव-वारिधौ॥173॥

अर्थ– हे प्राणी! यदि तू बड़े दुख से उत्तम अवस्थारूप तथा विद्या आदि परपदार्थों को प्राप्त करता भी है तो कुमति मिथ्याबुद्धि तुझे प्रमाद से संसाररूपी सागर में नियम से गिरा देती है॥173॥

भवाम्भोधि महावर्ते पतत्येव स्वयं ततः।
कदा मुक्ति-पदं सोऽपि निराबाधं प्रपद्यते॥174॥

अर्थ– उस दुर्बुद्धि के कारण यदि तू स्वयं संसार सागर के बड़े भारी भँवर में पड़ गया तो फिर निर्बाध मुक्ति पद को कब प्राप्त होगा?॥174॥

ब्रह्मा विष्णुर्महेशश्च प्रमादादपरोऽपि च।
पतिता भव पंकेन यथा नास्ति विनिर्गमः॥175॥

अर्थ– ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य लोग भी प्रमाद से उस भव पंक में उस प्रकार पड़े हैं जिससे निकलना संभव नहीं हो रहा है॥175॥

प्रमाद-परिमुक्तस्य यस्य चित्ते निरामये।
परं ब्रह्म-वसत्येव स एव तन्मयो मतः॥176॥

अर्थ– जिस प्रमाद रहित मनुष्य के स्वस्थ चित्त में परं ब्रह्म निवास कर रहा है वह नियम से परं ब्रह्ममय माना जाता है॥176॥

तानि स्थानानि तीर्थानि बभूवुर्जिन पुंगवाः।
स्थिता येषु तथा सिद्ध-ध्यानात् सिद्धो न किं नरः॥177॥

अर्थ– जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान जिन स्थानों में स्थित रहे वे स्थान तीर्थ बन गए उसी प्रकार जिस पुरुष के मन में सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान होता है वह क्या सिद्ध नहीं बन सकता? अर्थात् बन सकता है।।177।।

गच्छतस्तिष्ठतश्चापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
यस्य साधोर्मनस्तस्मिन् सकलास्तस्य सद्गुणाः॥178॥

अर्थ– जिस साधु का मन चलते, ठहरते, जागते और सोते हुए उन सिद्ध परमेष्ठी में रहता है उसके समस्त गुण प्रकट होते हैं।।178।।

यः पश्यति परात्मानं निर्मल-ज्ञान-चक्षुषा।
दूरी भवन्ति कर्माणि तस्य दर्शनमात्रतः॥179॥

अर्थ– जो साधु निर्मल ज्ञानरूपी नेत्र के द्वारा परमात्मा का दर्शन करता है उसके दर्शन मात्र से कर्म दूर हो जाते हैं।।179।।

गतीनां भ्रमणं नास्ति तस्य कर्मक्षयात्ततः।
दुःखदायि यथा जीर्ण भोजनाभावतो न च॥180॥

अर्थ– जिस प्रकार भोजन का परित्याग करने से दुखदायक अजीर्ण स्वयं नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कर्मों का क्षय होने से चतुर्गति का भ्रमण स्वयं नष्ट हो जाता है।।180।।

कर्म बंधः पृथक् तत्त्वं त्वममूर्तो निरत्ययः।
त्वद् गुणेभ्योऽतिसंबाह्यो धत्ते प्रीतिं कथं त्वयि॥181॥

अर्थ– कर्मबंध पृथक् तत्त्व है और तू निर्बाध अमूर्तिक पृथक् पदार्थ है। जबकि वह कर्मबंध तेरे गुणों से अत्यन्त बाह्य सर्वथा पृथक् पदार्थ है तब वह मुझमें प्रीति कैसे रख सकता हैं?।।181।।

यः पुमानः दीक्षते मोहादप्रियेसद्गुणान्।
कालकूटान्महारौद्राद्वान्छत्येष स्वजीवितम्॥182॥

अर्थ– जो पुरुष मोहवश अप्रिय शत्रु में प्रिय मित्र के समीचीन गुणों को देखता है वह अत्यंत भयंकर कालकूट विषय से अपना जीवन चाहता है अर्थात् हलाहल विष पीकर जीवित रहने की इच्छा करता है।।182।।

उदासीनत्वमालम्ब्यं मनागन्यत्र सर्वतः।
तेनैव शाश्वतं सौख्यं लभते त्वभवं सकृत्॥183॥

अर्थ– अन्य सब पदार्थों में कुछ उदासीनता का आलंबन करना चाहिए, क्योंकि उस उदासीनता के द्वारा ही यह जीव जन्म से रहित शाश्वत सुख मोक्ष को एक बार प्राप्त होता है।।183।।

गुणेरागः सरूपंच यौवनं बलमुत्तमम्।
संयमादि-क्रिया विद्या बुद्धिर्वाचा विशेषतः।।184।।
तस्यै तानि मनोज्ञानि मन्येऽहं भूतलेत्रिधा।
यस्यचित्तं लयं याति निष्कलंकेऽकलात्मनि।।185।।

अर्थ– गुणानुराग, उत्तमरूप, यौवन, उत्तमबल, संयमादि क्रिया, विद्या, बुद्धि और वचन ये सब वस्तुएं विशेषरूप से उसी की मनोज्ञ होती हैं जिसका कि चित्त कलंकातीत तथा शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी में कृत कारित अनुमोदना से लय को प्राप्त होता है, ऐसा मैं मानता हूँ।।184-185।।

विदित्वा पूर्व-मध्यात्मं विश्वसेव्यं विशारदः।
कोऽत्र मुह्यति संसारे पुद्गलादौ विनश्वरे।।186।

अर्थ– ऐसा कौन विशारद ज्ञानी पुरुष है जो सबके द्वारा सेवनीय अपूर्व अध्यात्म को जानकर इस विनश्वर पुद्गलादिरूप संसार में मोह को प्राप्त होता है उसे अपना मानता है।।186।।

देहि देहस्थ-मात्मानं त्वं वै स्थित्वात्र चिन्तय।
तेन मुक्तात्मना तुल्यं मुक्त्वा मोहं मुहुर्मुहुः।।187।।

अर्थ– हे प्राणी! तू यहाँ बैठकर तथा मोह को छोड़कर बार-बार उन सिद्ध परमेष्ठी के समान अपने शरीर में स्थित आत्मा का चिंतवन कर।।187।।

ओंकारादि - सुमन्त्रेषु कामदेषु निवासिना।
निर्जिताशेष-दोषेण जिनेन्द्रेण कृतार्थता।।188।।

अर्थ– जो समस्त मनोरथों को देने वाले ओम् आदि मंत्रों में निवास करते हैं तथा जिन्होंने समस्त दोषों को जीत लिया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कृतकृत्यता होती है।।188।।

योगिनं त्रिजगन्मध्ये योगिनां ज्ञान गोचरम्।
कर्मजिद-ध्यानमार्गेण ज्ञानरूपं विनिश्चलम्।।189।।

अर्थ– तीनों लोकों के मध्य में उसे ही योगी जानो जो योगियों के ज्ञान का विषय है, तथा कर्म को जीतने वाले ध्यान के मार्ग से ज्ञानरूप निश्चल है।।189।।

त्रिकालमिन्द्रियार्थेषु मनः शून्यं विधाय वै।
ध्यायेद् यः परमात्मानं कोऽपि योगी निरत्ययम्॥190॥

अर्थ– जो निश्चय से तीनों काल में इन्द्रियों के विषय में मन को शून्य कर परमात्मा का निर्बाध ध्यान करता है, वही कोई अनुपम योगी हैं॥190॥

समुपैति स एवान्ते निर्वाणपदमव्ययम्।
तत्क्षणाद्विगताधारं वीताक्षं हतकल्मषम्॥191॥

अर्थ– वह योगी ही अन्त में तत्काल उस निर्वाण पद को प्राप्त होता है जो अविनाशी है, निराधार है, अतीन्द्रिय है और निष्कलंक है॥191॥

लभते नैव तत्तत्वं चिन्तितार्थप्रदं सदा।
खलः किंचित्पुरादत्त्वा पुराणं निज लीलया॥192॥

अर्थ– खल मनुष्य जब तक अनादि कालीन कालिमा को अपनी लीला से पहले नष्ट नहीं कर लेता है तब तक वह सदा इच्छित पदार्थों के देने वाले उस शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त नहीं होता है॥192॥

विषतुल्यान् महापूर्वान् विषयान् प्राणनाशकान्।
योऽधीमान् सेवते कश्चिद् भवाब्धौ सुखकांक्षया॥193॥
तैर्दष्टो म्रियते किं न भूयो भूयः स एव हि।
लब्ध्वा दुःखमहो तीव्रं भवकोटीं भवान्तरे॥194॥

अर्थ– जो कोई मूर्ख इस संसार सागर में सुख की इच्छा से विष के समान प्राणनाशक महान् विषयों का सेवन करता है वही उन्हीं विषयों के द्वारा डसा जाकर संसार के बीच करोड़ों भव तक तीव्र दुख प्राप्त करता हुआ क्या बार-बार मरण को प्राप्त नहीं होता है? अर्थात् अवश्य होता है॥193-194॥

त्यक्त्वा तत्संगमादाय जिनमुद्रां प्रमोदतः।
ध्यात्वात्मानं महाशुद्धं भव्याः प्रापुः शिवश्रियम्॥195॥

अर्थ– उन विषयों का संग छोड़कर तथा हर्ष पूर्वक जिनमुद्रा को स्वीकृत कर अत्यन्त शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हुए भव्य जीव मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त हुए हैं॥195॥

ज्ञानमध्ये स्थितं तेषां प्रभूतं त्रिजगत्परम्।
परमाणु-रिवाजसंभ्रांति सर्वं चराचरम्॥196॥

अर्थ– उन मुक्तात्माओं के ज्ञान के मध्य में स्थित यह चराचर समस्त त्रिभुवन निरन्तर परमाणु के समान जान पड़ता है॥196॥

सम्यक्त्वादेव मोक्तासि भवादात्मन्निति स्थिरम्।
स्वात्मनि यन्मनः प्रोक्तं तत्सम्यक्त्वं मतं परम्।।197।।

अर्थ– हे आत्मन्! इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि तुम सम्यक्त्व के द्वारा ही संसार से मुक्त होओगे तथा अपने आत्मा में जो मन का लगाना है अर्थात् स्वकीय शुद्ध आत्मा की जो पर पदार्थ से भिन्न अनुभूति है वही श्रेष्ठ सम्यक्त्व माना गया है।।197।।

तत्समं चापरं नास्ति श्रेयः किन्चित्तनुभृताम्।
मुक्तिदायि-विदाराध्यं त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।।198।।

अर्थ– उस सम्यक्त्व के समान प्राणियों का कल्याण करने वाला, मुक्ति को देने वाला तथा ज्ञानीजनों के द्वारा आराधना करने योग्य दूसरा कुछ भी पदार्थ तीनों काल और तीनों लोकों में भी नहीं है।।198।।

समाधिसार - मित्युक्तमात्मतत्त्वं सुखावहम्।
त्रैविध-सोमसेनेन न के ध्यायन्ति योगिनः।।199।।

अर्थ– इस प्रकार त्रैविध सोमसेन के द्वारा कहे हुए समाधि के सारभूत सुखदायक आत्मतत्त्व का कौन योगी ध्यान नहीं करते? अर्थात् सभी करते हैं।।199।।

अर्थक्षयो यत्र न गात्रयष्टेः।
कष्टं न किंचित् पुनरस्ति कोऽपि।
परात्मसंगेन निजात्म - बोध-
स्तमेव कुर्वन्तु शिवाय सन्तः।।200।।

।।इति श्री सोमसेनाचार्य विरचितं समाधिसारं समाप्तम्।।